गुजरात का अंतर्पाठ

प्रफुल्ल कोलख्यान

सांप्रदायिकता की आग में भारत का मन कोई पहली बार नहीं झुलसा है और न इतने व्यापक पैमाने पर नरसंहार ही पहली बार हुआ है। लेकिन जो अभी गुजरात में हुआ, उसमें बहुत कुछ ऐसा भी है जो स्वतंत्र भारत में शायद पहली बार हुआ है। इसके पहले शायद ही सांप्रदायिक उन्माद की चपेट में आए किसी राज्य के निर्वाचित प्रतिनिधि और मुख्यमंत्री ने उसे सांप्रदायिक दंगा न मान कर जन आंदोलन सरीखा कुछ साबित करने और उसकी वैधता निर्मित का प्रयास किया हो। इस सांप्रदायिक घटना को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रचारक रह चुका मुख्यमंत्री न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धांत के सहारे जायज ठहराने की कोशिश करता है। उन्हें न्यूटन और विज्ञान की याद आती भी है तो किस संदर्भ में! राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपनी बैठक और सम्मेलन में पूरे घटनाक्रम पर आत्ममंथन कर इसे गोधरा कांड की प्रतिक्रिया ही कह रहा है। यानी पूरी जमात में सहमति है। शासन के अन्य छोटे-बड़े सहयोगी दल, जो असहमत दीखने की राजनैतिक कोशिश में हैं, वे भी बयानबाजी से आगे बढ़ने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं।

सत्ता लोलुपता की कोख से उपजी उनकी इस साहसहीनता को लोग किसी-न-किसी रूप में याद जरूर रखेंगे। बात साफ है कि प्रतिक्रिया और जन आंदोलन कह कर इसे सही साबित करने वाले लोग कल फिर इसे राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकटीकरण भी कह सकते हैं। राष्ट्रीय भावनाओं का यह प्रकटीकरण एक बार विवादित बाबरी मस्जिद गिराकर पूरे देश को दंगों की आग में झोंक चुका है और अब कह रहा है कि आज की तारीख में वहां कोई मस्जिद है ही नहीं, जो है वह मंदिर है। अब सवाल तो बस इस छोटे-से मंदिर की जगह एक भव्य और दिव्य मंदिर बनाने का है। वाह क्या बात है! यह कौन पूछे कि जहां कल तक मस्जिद थी वहां अब वह क्यों नहीं है? आगे इस प्रकटीकरण को किस दिशा में बढ़ाए जाने की इनकी योजना हो सकती है, इसका अनुमान लगाना बहुत मुश्किल नहीं है।

गुजरात की घटना के अथ और इति को पकड़ना और समझना जितना जरूरी है उतना ही जटिल है क्योंकि यह कोई समकालीन विश्व और भारतीय राजनीति के मुख्य प्रवाह से विच्छिन्न घटना नहीं है। उसके राजनैतिक निहितार्थ और सांस्कृतिक आशय को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ध्यान में पढ़े जाने की जरूरत है, क्योंकि यह सिर्फ दो समुदायों के बीच किसी गलतफहमी के तनाव से उत्पन्न कानून और व्यवस्था के भंग होने से संबंधित सामान्य घटना नहीं है। इस पर ठंडे दिमाग से सोचने और समझने की जरूरत है। ठंडे दिमाग से सोच कर बनाई गई समझ के साथ उस जनता तक पहुंचने की आवश्यकता है जो किसी भी मानवीय संरचना की शक्ति का मुख्य आधार स्रोत हुआ करती है। यही जनता भारत का 'हम लोग' है जिसने भारत के संविधान को आत्मार्पित किया है। यह 'हम लोग' ही भारत के संविधान की मूल भावना के अक्षर और आशय की शक्ति और संभावनाओं की सार्थकता को बचा सकता है। 'हम लोग' के प्रतिनिधि आज 'हम लोग' की शक्ति को भूल गए हैं। उन्हें यह भ्रम हो गया है कि हम अवश हैं और इसे वश में करना या रखना ही उनका राजनैतिक कौशल और न्यूनतम कष्ट देकर इस प्रक्रिया को जारी रखना उनकी कृपा है।

यह बेबसी अगर गुलामी नहीं है, तो गुलामी क्या है? इस बेबसी से मुक्ति अगर आजादी नहीं है, तो आजादी क्या है? इन बुनियादी सवालों को फिर से टटोलने की जरूरत है। सिर्फ बाहरी या विजातीय शक्तियां ही किसी समाज को गुलाम नहीं बनाती हैं, बल्कि भीतरी और सजातीय शक्तियां भी गुलाम बनाती हैं। गुलाम बनाने वाली बाहरी और विजातीय शक्तियों से लड़ना भीतरी और सजातीय शक्तियों से लड़ने की अपेक्षा आसान होता है। भारतीयों के लिए अंग्रेजों से लड़ना मुश्किल तो था, लेकिन गुलाम बनाने वाले इन भारतीयों से लड़ना उससे मुश्किल साबित होता रहा है। कई बार गुलाम बनाने वाली भीतरी और बाहरी शक्तियों में एक प्रकार का गठजोड़ बन जाता है। इस समय हम लोग भीतरी और बाहरी शक्तियों के ऐसे ही गठजोड़ के समय में पहुंच गए हैं। पाखंड ऐसा कि मुक्ति के लिए सचमुच 'समुझि पड़हिं नहिं पंथ' की स्थिति में हम फंस गए हैं। इस फांस से निकलने और पंथ को समझने के लिए जरूरी है कि इस गठजोड़ को समझा जाए।

गुलाम बनाने वाली बाहरी शक्तियों से मुक्ति की लड़ाई की आकांक्षा के सफल होने से राष्ट्र-राज्य की सीमाओं और संप्रभुताओं का संगठन होता है। गुलाम बनाने वाली भीतरी शक्तियों से मुक्ति की लड़ाई की आकांक्षा के सफल होने से राष्ट्रीय जनतंत्र का उदय होता है। अक्सर बाहरी और भीतरी गुलामी से मुक्ति की लड़ाई एक साथ शुरू होती है, क्योंकि भीतरी गुलामी से मुक्ति की प्रतिश्रुति ही 'हम लोग' अर्थात व्यापक जनसमुदाय को बाहरी गुलामी से लड़ने के लिए प्रेरित कर पाती है। इसलिए राष्ट्रीय सीमा, संप्रभुता और राष्ट्रीय जनतंत्र का संगठन भी साथ-साथ ही होता है। राष्ट्र-राज्य की सीमा, संप्रभुता और राष्ट्रीय जनतंत्र दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। बाहरी गुलामी से छूटने के बाद आंतरिक गुलामी से व्यापक जन समुदाय की मुक्ति की प्रतिश्रुति को न सिर्फ भुला दिया जाता है, बल्कि उस गुलामी को बनाए रखने की जनतंत्र-विरोधी राजनैतिक परियोजना पर भी काम प्रारंभ हो जाता है। इस क्रम में राज्य जनतंत्र से प्राप्त अपनी आंतरिक शक्ति के क्षरण की ओर बढ़ने लगता है और इस क्षरण की क्षतिपूर्ति के लिए बाहरी शक्ति की गिरफ्त में फंसता जाता है।

आज अगर वैश्वीकरण, उदारवाद (?) और बहुराष्ट्रीय बाजारवाद के कारण राष्ट्रीय सीमा, संप्रभुता और राष्ट्रीय जनतंत्र एक साथ खतरे में हैं तो यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि हमें गुलाम बनाने वाली बाहरी और भीतरी दोनों ही शक्तियों का गठजोड़ काम कर रहा है। ऐसे गठजोड़ की राजनीति को चलाने के लिए राज्य सत्ता के पास सबसे कारगर हथियार अंधविश्वास होता है। जहां ज्ञान की सीमा समाप्त होती है वहीं से अंधविश्वास का क्षेत्र प्रारंभ होता है। अंधविश्वास के लिए सबसे उर्वर भूमि धर्मक्षेत्र ही मुहैया कराता है। ज्ञान की सीमा को संकुचित करने और संस्कृति के नाम पर अंधविश्वास को फैलाने में इसकी बड़ी भूमिका होती है। अंधविश्वास को फैलाने में धर्म के उपयोगी होने के कारण ही राजनीति धर्म का सहारा लेती है। अंधविश्वास को अपनी राजनैतिक पूंजी बनाने वाले लोग और दल राजनीति में धर्म का सहारा लेते हैं। अंधविश्वास के इस बिंदु से देखें तो डॉ राममनोहर लोहिया के इस कथन का मर्म सहज ही पकड़ में आ जाता है कि क्यों दीर्घकालिक राजनीति धर्म है और अल्पकालिक धर्म राजनीति है। दुखद यह है कि डॉ लोहिया के राजनैतिक सोच को अपनी राजनैतिक पूंजी और प्रेरणा मानने वाले भी अंधविश्वास के सहारे समाज को आंतरिक गुलामी के जाल में फंसाने वालों के न सिर्फ साथ हैं, बल्कि उनके सुरक्षा कवच बनने में अपना गौरव समझ रहे हैं।

राजनीति और धर्माश्रयी अंधविश्वास का संबंध आज ही की घटना नहीं है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और प्लेटो का 'रिपब्लिक' दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। 'प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं संस्थाएं' नामक अपनी पुस्तक में अंधविश्वास और राजनीति के बारे में इतिहासकार रामशरण शर्मा ने उल्लेख किया है, 'कौटिल्य ने एक युक्ति यह भी सुझाई है कि कुछ देव प्रतिमाएं नष्ट करके उनसे लगातार खून की धारा बहती दिखाई जाए और तब गुप्तचर ऐसा प्रचार करें कि यह शत्रु की हार का लक्षण है।' इस प्रसंग में गणेश प्रतिमाओं के दुग्धपान को याद किया जा सकता है। रामशरण शर्मा आगे बताते हैं, 'ऐसी बात नहीं कि प्राचीन राजनीति में अंधविश्वासों का लाभ उठाने के सिद्धांतों का प्रतिपादन अकेले कौटिल्य ने किया हो। बिल्कुल यही दृष्टिकोण प्लेटो के 'रिपब्लिक' में भी देखा जा सकता है। काल की दृष्टि से तो नहीं, लेकिन स्थान की दृष्टि से एक दूसरे से बहुत दूर होते हुए भी प्लेटो और कौटिल्य दोनों के विचार में अपनी सत्ता की रक्षा और विस्तार के लिए शासक वर्ग को अंधविश्वास को प्रश्रय देना चाहिए। रोम के राजनीतिज्ञों की दृष्टि भी ऐसी ही थी। प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञ भी ऐसे ही प्रपंचों का प्रयोग करते थे और निर्भीक और सूक्ष्म चिंतक यदाकदा इन प्रपंचों का पर्दाफाश भी कर देते थे।' ज्योतिषशास्त्र पढ़ाने की बेताबी को प्रपंच के इस प्रयोग से जोड़ कर ही समझा जा सकता है। 'निर्भीक' और 'सूक्ष्म' चिंतकों के द्वारा यदाकदा इन 'प्रपंचों का पर्दाफाश' किया जाना दुनिया के हर कोने में जारी रहा है। पर्दाफाश के कारण चिंतकों को नाना प्रकार की यातनाओं के साथ-साथ प्राणदंड तक भी दिए गए।

जो हो, इस प्रकार के निर्भीक और सूक्ष्म चिंतकों की संख्या संस्कृति के इतिहास में कम ही रही है, भारतीय संस्कृति के इतिहास में तो और भी कम रही है। अधिकतर चिंतक तो उदर पोषण के लिए 'लुंचन, मुंडन, वस्त्र काषायम' के सहारे बहुवेष धरने के चक्कर में लग कर ही अपना जीवन बिताते रहे। इस या उस तरकीब से राजसत्ता के हितपोषण के लिए नाना प्रकार के धोखे खड़े करके अंधविश्वासों के जाल में जनता के बड़े हिस्से को फांसे रखने की परियोजना पर ही काम करते रहे हैं। देखा जाए तो संस्कृति के बड़े हिस्से का विनिर्माण इस परियोजना के अंतर्गत ही हुआ। इस या उस तरकीब से अंधविश्वासों को काटने वाले ज्ञान के स्रोतों से जनता के बड़े हिस्से को काट कर रखने का भी विधान किया गया। स्त्री और शूद्रों को वेद पढ़ने की मनाही होने का मतलब यही है कि वेद ही नहीं, कुछ भी पढ़ने के अधिकार अर्थात ज्ञान के स्रोत से उन्हें वंचित रखा जाए। ज्ञान, जो शक्ति का स्रोत होता है, अंततः अंधविश्वास की संरचना को तोड़ने की ही शक्ति के स्रोत के रूप में सार्थक होता है। यह अकारण नहीं है कि भारतीय संदर्भ में स्त्री और शूद्र सबसे अधिक शोषित रहे हैं।

इस तरह संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया कोई बहुत अमूर्त प्रक्रिया नहीं प्रतीत होती। अंधविश्वास को बनाने और बढ़ाने वाली प्रक्रिया, जिसके लिए सबसे बड़ा औजार जनमन में बसा दी गई ईश्वर और उससे जुड़ी आधिभौतिक या आध्यात्मिक अवधारणा बनी, जिसे धर्म के रूप में जनता के बीच फैलाया गया। दूसरी ओर अंधविश्वास को तोड़ने वाली ज्ञान की भौतिक और मानवीय सामाजिक प्रक्रिया भी जारी रही। इन दोनों ही प्रक्रियाओं के टकराव और द्वंद्व से मानवीय संस्कृति निर्मित हुई है। पर्दादारी और पर्दाफाश की इन दो प्रक्रियाओं के बीच से संस्कृति के संगठन और विकास का रास्ता निकलता है और इनकी तमाम जटिलताएं इन्हीं दो प्रवृत्तियों के गुत्थमगुत्था से बनी प्रतीत होती हैं। इसी 'पर्दाफाश' के क्रम में आगे चल कर ज्ञानोदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। मोटे तौर पर देखा जाए तो मानव-संबंधों के संदर्भों का सामाजिक परिप्रेक्ष्य विज्ञान के विकास के साथ धीरे-धीरे विकसित होता रहा है। यद्यपि विज्ञान संबंधी ज्ञान का होना जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अर्जित करने का अनन्य आधार भी विनिर्मित करे, यह अनिवार्य नहीं है। हम जानते हैं कि कैसे शोषक शासन अंधविश्वास को फैलाने के एक औजार के रूप में विज्ञान का भी उपयोग करता है।

गुजरात की घटना का अंतर्पाठ यह है कि बाहरी और भीतरी शक्तियां मिलकर वैश्वीकरण के जाल में हमारी राष्ट्रीय संप्रभुता और हमारे जनतांत्रिक हक को फंसाना चाहती हैं। 'बांटो और राज करो' के राजनैतिक सूत्र के इस्तेमाल से ही इस जाल को बुना गया है। बांटने के लिए भाषा, लिंग, नस्ल, क्षेत्र आदि तो हैं ही, लेकिन धर्म और उससे उत्पन्न अंधविश्वास से अधिक तेज हथियार और भला क्या हो सकता है? बाहरी और भीतरी गुलामी को कारगर तरीके से लाने की प्रयोगशाला दुनिया बनाई जा रही है। आज यह गुजरात में दिख रहा है, कल किसी दूसरी जगह दिखेगा।